अथ चत्वारिंशोऽध्यायः॥

—:o:—

१. **ऋग्वेद** 'विज्ञानवेद' है। वह प्राकृतिक विद्याओं (Natural sciences) को अपना विषय बनाता है। यजुर्वेद 'कर्मवेद' है, उसमें जीवन के विविध कर्त्तव्यों का प्रतिपादन है। सामवेद 'उपासनावेद' है, उसमें प्रभु की उपासना का प्रतिपादन है और अन्त में अथर्ववेद 'ब्रह्मवेद' है, जो हमें नीरोग व निर्मल होकर, रोगों व युद्धों से ऊपर उठकर हृदय में प्रभु के दर्शन करने के लिए प्रेरणा देता है।

२. यजुर्वेद में कर्मों (कर्त्तव्यों) का प्रतिपादन है और ये कर्म स्थूल-दृष्ट्या 'यज्ञ' शब्द से प्रतिपादित हुए हैं, **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**=यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। देवता इस यज्ञ से ही 'यज्ञ' नामक प्रभु की उपासना करते हैं। ये यज्ञ ही प्रथम धर्म हैं **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'**। यज्ञ के तीन स्थूल विभाग हैं 'देवपूजा, सङ्गतिकरण, दान'। 'देवताओं का आदर करना, परस्पर मेल से चलना और देना' ये तीन ही बातें क्रमशः बड़ों, बराबरवालों तथा छोटों के प्रति हमारे कर्त्तव्य हैं।

३. इस यजुर्वेद के ३८ अध्यायों में मनुष्य के करणीय यज्ञों का विधान है। ३९वाँ अध्याय अन्त्येष्टि संस्कार का है यह मनुष्य को स्मरण कराता है कि उसने गर्व नहीं करना।

४. यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि स्थूलरूप से 'ऋग्वेद' ब्रह्मचारी का वेद है, उसने सब विज्ञानों का अध्ययन करना है। 'यजुर्वेद' कर्मवेद है, यह गृहस्थ को उसके विविध कर्त्तव्यों का स्मरण कराता है। वनस्थ का 'सामवेद' उसे सदा प्रभु की उपासना में निरत रहने का उपदेश देता है और 'ब्रह्माश्रमी'=संन्यासी का अथर्ववेद उसे नीरोग व निर्मल बनाकर रोगों व युद्धों से ऊपर उठकर व्याधि व आधियों को दूर करके सब प्रकार की उपाधियों को भी परे फेंककर समाधि द्वारा प्रभुदर्शन की प्रेरणा देता है।

५. यजुर्वेद गृहस्थ का वेद है। उससे करने योग्य यज्ञों का उसके ३८ अध्यायों में वर्णन है।

यजुर्वेद का यह अन्तिम अध्याय 'ब्रह्माध्याय' कहलाता है, क्योंकि इसमें मुख्यरूप से ब्रह्म की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन हुआ है। एक मन्त्र के परिवर्तन के साथ यही 'ईशोपनिषद्' के नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रथम शब्द 'ईश' है, अतः इसका ईशोपनिषद् नाम पड़ गया।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रभु की सर्वव्यापकता

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥१॥

इदम् सर्वम्=यह सब, **यत् किञ्च**=जो कुछ **जगत्यां जगत्**=जगती में, ब्रह्माण्ड में **जगत्**=लोक हैं, वे सब-के-सब **ईश+आवास्यम्**=उस ईश (प्रभु) से समन्तात् बसने योग्य हैं। कण-कण में वह प्रभु समा रहे हैं। वे सर्वव्यापक हैं, इसीलिए वे आँखों से दिखते नहीं।

मन्त्र का जगती शब्द ब्रह्माण्ड का वाचक है। इस ब्रह्माण्ड में पिण्ड, अर्थात् छोटे-छोटे

जगत् तो अनन्त हैं। हमारे लिए उनकी संख्या को पूरा-पूरा जानना सम्भव नहीं। एक सौर लोक एक जगत् है, इस जगती में तो ऐसे सौर जगत् कितने ही हैं? यह जगती की विशालता उस प्रभु की महिमा का व्याख्यान कर रही है। **तेन**=क्योंकि वे प्रभु सर्वव्यापक हैं, कण-कण में विद्यमान हैं, अतः हे जीव! तू **त्यक्तेन**=त्यागभाव से **भुञ्जीथाः**=उपभोग करना, विषयोपभोग में न फँस जाना। प्रभु ने भोजन का निर्माण 'पालन' के लिए ही तो किया है। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः'=पालन के लिए खाना ही भोजन है। आसक्तिपूर्वक मजा तो वही लेने लगता है जो प्रभु से दूर हो जाता है। **मा गृधः**=तूने इन विषयों का लालच न करना। लालच से मनुष्य अधिक खा जाता है। विषयों का सौन्दर्य व स्वाद हमें अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और हम उन विषयों का शरीर धारण के लिए नहीं अपितु स्वाद के लिए उपभोग करने लगते हैं। इन विषयों की प्राप्ति के साधनभूत धन को जुटाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य बन जाता है। यही धन अन्ततः हमारे 'निधन' का कारण हो जाता है, परन्तु प्रश्न यह है कि 'हम लालच से ऊपर कैसे उठें?' इस प्रश्न के उत्तर में वेद कहता है कि प्रतिदिन यह सोचो कि **कस्य स्वित् धनम्**=भला, धन किसका है? इसने आजतक किसका साथ दिया? यह तो शरीरधारण के लिए साधनमात्र है। यह हमारे जीवन का साध्य नहीं है? 'कस्य स्विद् धनम्' का विचार हमारी आँखें खोल देगा और हम लोभ से ऊपर उठ सकेंगे, तभी हमारा जीवन त्यागपूर्वक उपभोगवाला हविरूप (हु-दानादनयोः) होगा।

'ईशावास्यम्' का अर्थ परमेश्वर से समान्तात् वसने योग्य तो है ही, उस प्रभु का निवास (वस निवासे) कण-कण में है। साथ ही 'वस आच्छादने' से इस शब्द को बनाएँ तो अर्थ होता है कि वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को आच्छादित किये हुए हैं। हमें भी उस प्रभु का वह अमृतमय आच्छादन प्राप्त है। ऐसी अवस्था में मृत्यु हमारे तक आ ही कैसे सकती है? मेरा तो वह अमृत प्रभु ही उपस्तरण है, वही अपिधान है। उसमें आवृत मैं मृत्युगोचर कैसे हो सकता हूँ। एवं, यह प्रभुभक्त पूर्ण निर्भीकता को अनुभव करता है। उस प्रभु का सर्वत्र निवास उसे पापभीरु बनाता है तो उस प्रभु का सर्वतः आच्छादन उसे मृत्यु से भी न डरनेवाला वीर बनाता है, एवं ईशावास्यमिदं सर्वम्' का अनुभव करनेवाला भीरु भी है, वीर भी। पाप से डरता है तो मृत्यु से निडर भी है।

'ईश' शब्द मन्त्र का प्रथम शब्द है जो स्वामित्व का प्रतिपादन करता हुआ मन्त्र की अन्तिम भावना 'कस्यस्वित् धनम्' का पोषण कर रहा है। **धनम्**=धन **स्वित्**=निश्चय से **कस्य**=उस अनिर्वचनीय प्रभु का है। हे जीव! तू क्यों गर्व कर रहा है! धन का मालिक तू नहीं। ईश तो प्रभु हैं, तेरा क्या स्वामित्व?

प्रभुदर्शन से इसका तम विदीर्ण होकर वह 'दीर्घ (विदीर्ण) तमा' कहलाता है। प्रभु का निरन्तर ध्यान करने से यह 'दध्यङ्' है और बाह्य विषयों में आसक्त न होकर अन्दर ध्यान करने से 'आथर्वण' है (अथ अर्वाङ्)।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का अनुभव करो, त्यागपूर्वक प्रकृति का उपभोग करो, लोलुपता से दूर रहो और सदा विचारो कि भला धन किसका है?

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

क्रियामय दीर्घ जीवन

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु आदेश करते हैं कि—१. **इह**=इस लोक में तथा इस मानव-जीवन में **कर्माणि**=कर्मों को **कुर्वन् एव**=करते हुए ही तूने जीना है। (क) संसार का नियम ही क्रिया है, यह संसार है, 'संसरति' निरन्तर चल रहा है, जगत् है, गति में है। 'What is this universe ? but an infinite conjugation of the verb to do.' यह संसार कृ धातु के विविध रूपों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इस गतिमय संसार में अकर्मण्य होने का क्या मतलब? (ख) अर्कमण्यता 'ह्रास' और 'विध्वंस' से सम्बद्ध है, 'जो पानी खड़ा वह सड़ा' यह प्रसिद्ध ही है। (ग) मनुष्य 'आत्मा' है, अत=सातत्यगमनवाला है। क्रियाशीलता के अभाव में तो वह 'स्व' को ही खो देता है। २. प्रभु का दूसरा आदेश है कि **शतं समाः**=सौ वर्षपर्यन्त **जिजीविषेत्**=जीने की कामना करे। जितना दीर्घजीवी बन सके उतना ही ठीक। इस दीर्घ जीवन के लिए क्रियाशीलता साधन है। ३. एवं प्रभु ने उपर्युक्त दो आदेश देकर कहा कि **एवं त्वयि**=तेरे विषय में ऐसा ही निश्चय है। **इतः**=इससे **अन्यथा**=और प्रकार का कोई मार्ग **न अस्ति**=तेरे लिए नहीं है। 'कर्म करते हुए सौ वर्ष जीना' ही तेरे जीवन का एकमात्र नियम है। ४. इसपर जीव सोचने लगा कि (क) इतना लम्बा जीकर क्या करूँगा? जीवन जितना लम्बा होगा उतने ही अधिक पाप होंगे। बालक पैदा होते ही चला गया। अहोभाग्य है कि उससे कोई पाप तो नहीं हुआ और (ख) कर्म करना भी तो भय से रहित नहीं है। कर्म का फल भोगना होगा। फल के लिए शरीर लेना पड़ेगा और स-शरीर के सुख-दुःखों का परिहार कहाँ? एवं कर्म तो बाँधेगा ही। ये कर्म करते हुए ही जीना तो एक झंझट है। ५. ऐसे विचारों के उत्पन्न होने से कुछ उदास-से जीव को प्रभु कहते हैं कि अरे दीर्घजीवन होगा तो पाप ही क्यों अधिक होंगे? ऐसा भी सम्भव है कि तू प्रतिवर्ष एक-एक क्रतु (यज्ञ) करे और सौ वर्षों के दीर्घजीवन में तू 'शतक्रतु' ही बन जाए और कर्म के बन्धन से तू क्यों भयभीत होता है, क्योंकि **नरे**=नर में **कर्म**=कर्म **न लिप्यते** =लिप्त नहीं होता। नर मनुष्य कर्म के लेप से ऊपर है। नर वह है जो **न रमते**=इन कर्मों में उलझ नहीं जाता। न रम जाना, न फँस जाना ही नर का धर्म है। विरत होकर कर्त्तव्य को करते जाना ही मार्ग है। इस मार्ग से चलनेवाला लिप्त नहीं होता। विरति=वैराग्य बन्धन से बचाता है। मैं कर्म को न चिपटूँ तो वह भी मुझे क्यों चिपटेगा?

एवं, हमें इस संसार में नर बनकर, अनासक्तिपूर्वक कर्म करते चलना है और अवश्य सौ वर्ष तक जीना है। 'मैं पापी हो जाऊँगा, कर्म मुझे बाँध लेंगे' इस अज्ञान को नष्ट करके व्यक्ति 'दीर्घतमा' बना है।

भावार्थ—हम प्रभु के इन दो आदेशों का सदा स्मरण करें 'सदा कर्मशील रहो', 'सौ वर्ष जीने की कामना रक्खो'।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

आत्मघात

असुर्या॑ नाम॒ ते लो॒काऽअ॒न्धेन॒ तम॒सावृ॑ताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि॑ गच्छन्ति॒ ये के चा॑त्म॒हनो॒ जनाः॥३॥

(क) प्रथम व द्वितीय मन्त्र में निम्न बाते कहीं गई हैं—१. प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करना २. त्यागपूर्वक उपभोग करना ३. लालच नहीं करना ४. प्रतिदिन इस प्रश्न का विचार करना कि 'भला, धन किसका है?' ५. जीवन को सदा क्रियामय रखना और आसक्ति से ऊपर उठकर नर बनकर काम करना तथा ६. सौ वर्ष जीने की प्रबल भावना

रखना, तदनुसार ही जीवन को ढालना।

(ख) ये छह बातें ही आत्मोन्नति का मार्ग हैं। इसी पर मनुष्य को चलने का प्रयत्न करना है। जो व्यक्ति इन बातों का ध्यान न करके १. प्रभुको स्मरण नहीं करता। अपने को अकेला समझ व्यसनों के प्रलोभन से नहीं बच पाता ३. भोग ही जिसके जीवन का लक्ष्य हो जाता है, अपने ही प्राणों व जीवन में रमा रहता है, 'असुषु रमन्ते' असुर बनकर अपने ही मुख में आहुति देता है **'स्वेषु आस्येषु जुह्वतश्चेरुः'**। इसके जीवन में त्याग का कोई स्थान नहीं होता। ३. इसकी लोलुपता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है ४. यह समझता है कि धन का वही स्वामी है, धन को उससे कौन छीन सकता है? ५. धन की वृद्धि करके यह अपने जीवन को आरामपसन्द बना लेता है, इसका जीवन क्रियाशील नहीं रहता और इस प्रकार अनजाने में क्षीणशक्ति होता जाता है। ५. सौ वर्ष जीने की तो कल्पना करके भी यह कई बार व्याकुल हो जाता है, वृद्धावस्था के कष्टों की कल्पना करके ही घबरा उठता है। इसके जीवन का संक्षिप्त ध्येय 'Eat, Drink and be Merry' हो जाता है। यही व्यक्ति 'आत्महन्' है, यह आत्मा का घात कर रहा है। प्रभु की ओर न जाकर अन्ततः प्रकृति के पाँओं तले रौंदा जाता है। (ग) **ये के च आत्महनो जनाः**=जो कोई भी आत्महन् लोग होते हैं **ते**=वे **प्रेत्य**=इस शरीर से प्रयाण करने के अनन्तर **तान्**=उन लोकों की **अपि गच्छन्ति**=ओर जाते हैं जो लोक कि इस प्रकार की आसुरवृत्तिवाले लोगों के लिए हितकर हैं (असुर + य) **ते लोकाः**=वे लोक **असुर्या नाम**='असुर्य' (असुरों के लिए हितकर) इस नामवाले हैं। ये लोक **अन्धेन तमसा**=घने अँधेरे से **आवृताः**=आच्छादित हैं। इन लोकों में प्रकाश नहीं। पशु देखते हैं (पश्यन्ति), समझते नहीं। वृक्ष इत्यादि तो एकदम अन्तःसंज्ञी ही हैं—उनकी चेतना पूर्णतया लुप्त-सी है। ये ही योनियाँ असुर्य हैं। केवल अपने प्राण-पोषण में रत लोगों के लिए ये भोगयोनियाँ ही उपयुक्त हैं। एवं, प्रभु इन आत्महन् असुरों को इन्हीं योनियों में जन्म देते हैं। इनमें रहते हुए वे भोग भोगने में रत रहते हैं। उनका कोई कर्त्तव्य नहीं होता—उन्हें भोग ही भोगने होते हैं। ये लोक अन्धतमस् व अज्ञान से आवृत हैं। इनमें ज्ञान का नितान्त अभाव है। यहाँ कर्त्तव्य ही नहीं है, अतः कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेक का प्रश्न ही नहीं उठता।

सम्भवतः इन भोगों के भोग से रजकर, या इस प्रसुप्त-सी अवस्था में पिछले संस्कारों को भूलकर ये चिरकाल पश्चात् फिर मानव-जीवन को प्राप्त करेंगे और एक बार फिर इन्हें आत्मोन्नति के मार्ग पर चलने का अवसर प्राप्त होगा।

भावार्थ—हम आत्मोन्नति के मार्ग पर चलें। आत्महन् बनकर असुर्य लोकों में जन्म के भागी न बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**ब्रह्म**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

निरभिमानता

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽआप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥

१. पिछले मन्त्र की फलश्रुति के बाद प्रस्तुत मन्त्र में 'सर्वव्यापकता' की भावना का ही प्रकारान्तरेण वर्णन प्रारम्भ होता है—(क) वे प्रभु **अनेजत्**=(न एजत्) बिलकुल हिल नहीं रहे। खाली स्थान हो तो हिला जाए! जब वे सर्वव्यापक हैं, हिलें ही कैसे, परन्तु सर्वव्यापक न होते हुए भी तो किसी और से स्थान भरा होने के कारण 'न हिलना' हो

सकता है, अतः कहते हैं कि **'एकम्'**=वे हैं तो एक। 'एक होते हुए न हिलना' तभी होता है जब वह सर्वव्यापक हो। (ख) **मनसो जवीयः**=वे प्रभु मन से भी अधिक वेगवान् हैं। मन सर्वाधिक वेगवाला है। प्रभु मनसे भी अधिक वेगवान् हैं। वास्तविकता तो यह है कि **एनत्**=इस प्रभु को **देवाः**=देव **न आप्नुवन्**=नहीं पकड़ पाते। देवों की दौड़ के साम्मुख्य में सब देव इससे पीछे रह जाते हैं। प्रभु जीत जाते हैं। जीत का अभिप्राय यही है कि 'विजयस्तम्भ' पर पहले पहुँच जाना। प्रभु तो **पूर्वम्**=पहले ही **अर्शत्**=वहाँ पहुँचे हुए हैं। सर्वव्यापक होने के कारण वे कहाँ नहीं हैं। (ग) **तत्**=वे प्रभु **धावतः अन्यान्**=दौड़ते हुए दूसरों को **अत्येति**=लाँघ जाते हैं, उनसे आगे निकल जाते हैं और खूबी यह कि **तिष्ठत्**=ठहरे-ठहरे ही। बिना गति किये लाँघ जाना इसीलिए तो है कि जहाँ भी पहुँचना है प्रभु वहाँ पहले से ही हैं। २. एवं, वे प्रभु सर्वव्यापक तो हैं ही, परन्तु साथ ही सौन्दर्य की बात यह है कि गतिशून्य होते हुए भी सर्वाधिक गतिमान् हैं। ठहरे भी दौड़ते हुओं से आगे निकल जानेवाले हैं। ठीक-ठीक बात यह है कि गतिशून्य होते हुए सबको गति दे रहे हैं। वे गति के स्रोत हैं। ३. **मातरिश्वा**=मातृगर्भ में बढ़नेवाला यह जीव भी **तस्मिन्**=उस प्रभु में ही **अपः**=कर्मों को **दधाति**=धारण करता है। इसकी भी सारी गति उस प्रभु की शक्ति से ही हो रही है। जीव को यह भ्रम हो जाता है कि उसकी अपनी शक्ति है।

भावार्थ—हम प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करें। कण-कण में उसकी शक्ति को काम करता हुआ देखें और अपनी सफलताओं को प्रभुशक्ति से होता हुआ समझें तथा सदा प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

वह परावर प्रभु (अन्दर भी, बाहर भी), दूर भी, समीप भी

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र प्रभु की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन करता हुआ काव्य की दृष्टि से विरोधाभास अलंकार का बड़ा सुन्दर उदाहरण है। **तत्**=वह प्रभु **एजति**=गति करता है और **तत् न एजति**=वे प्रभु गति नहीं कर रहे हैं। ये दोनों वाक्य परस्पर विरोधी अर्थवाले प्रतीत होते हैं, परन्तु यह विरोध का आभास नष्ट हो जाता है जब प्रथम वाक्य को प्रेरणार्थक धातु मानकर अर्थ यह कर देते हैं कि प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं (एजति=एजयति)। शरीर चलता प्रतीत होता है, परन्तु यह सब गति अन्तःस्थित आत्मतत्व के ही कारण है, अतः आत्मा ही तो गति दे रहा है। इसी प्रकार सारे ब्रह्माण्ड की आत्मा वे प्रभु हैं, उन्हीं से यह सारी गति दी जा रही है, परन्तु सर्वव्यापक होने के नाते वे स्वयं गतिशून्य हैं। वे कहाँ जाएँ और कहाँ आएँ, वे तो पहले से ही सब स्थानों में विद्यमान हैं। २. **तद् दूरे**=वे प्रभु दूर-से-दूर हैं **तत् अन्तिके**=और वे समीप-से-समीप हैं। दूर भी है, समीप भी। इस प्रकार विरोध का आभास होता है, परन्तु अभिप्राय इतना ही है कि सर्वव्यापक होने के कारण हम कल्पना से जितनी भी दूर पहुँच सकते हैं, प्रभु वहाँ हैं ही और हमारे अन्दर भी होने से समीप-से-समीप भी हैं। पर-से-पर तथा अवर-से-अवर होने से ही प्रभु का नाम 'परावर' है। ३. **तत्**=वे प्रभु **अस्य सर्वस्य**=इस सारे ब्रह्माण्ड के **अन्तः**=अन्दर हैं और **तत् उ**=वे प्रभु **अस्य सर्वस्य**=इस सारे जगत् के **बाह्यतः**=बाहर भी हैं। अन्दर होते हुए वे प्रभु अन्तर्यामी हैं तथा बाहर होने से सबको आच्छादित करके सुरक्षित कर रहे हैं। अन्दर

व्याप्ति की भावना 'वस निवासे' धातु द्वारा 'ईशावास्यम्' शब्दों में व्यक्त हुई है तथा 'वस् आच्छादने' धातु से गर्भ में सुरक्षित रखने की भावना व्यक्त हो रही है।

भावार्थ—प्रभु दूर-से-दूर व समीप-से-समीप हैं, अन्दर व बाहर सर्वत्र व्याप्त हैं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सन्देह व घृणा से दूर

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥६॥

१. 'प्रभु की सर्वव्यापकता, अन्दर व बाहर सर्वत्र उसकी सत्ता का अनुभव करनेवाला व्यक्ति सब प्रकार के सन्देह व घृणा से ऊपर उठ जाता है, इस बात को प्रस्तुत मन्त्र इन शब्दों में कहता है—**यः तु**=जो तो **सर्वाणि भूतानि**=सब प्राणियों को **आत्मन्**=सर्वव्यापक आत्मतत्त्व में **एव**=ही **अनुपश्यति**=अपने स्वरूप को देखने के साथ देखता है, **च**=और **सर्वभूतेषु**=सब प्राणियों में **आत्मानम्**=परमात्मा को देखता है **ततः**=फिर **न वचिकित्सति**=किसी प्रकार का सन्देह नहीं करता है। २. प्रभु का दर्शन हमें सन्देह व घृणा से ऊपर उठा देता है। घृणा तो मनुष्यमात्र में प्रभु को देखने से ही नहीं रहती। सब भूतों में प्रभु को देखनेवाला सब भूतों से प्रेम करता है व उन्हें आदर से देखता है। पण्डित सबमें समरूप से अवस्थित प्रभु को ही देखते हैं। सर्वत्र प्रभुदर्शन ही सच्चा वेदान्त है। यह व्यक्ति निर्भीक व निर्घृण होता है। घृणा से ऊपर उठा हुआ यह प्रेम का पुञ्ज बन जाता है। इसका ज्ञान सब उपाधियों से ऊपर उठा हुआ है, अतः यह सचमुच 'दीर्घतमा'=दूर हो गये अन्धकारवाला है।

भावार्थ—हम प्रभु को सबमें और सबमें प्रभु को देखें, यही 'तत्त्वज्ञान' है। यही सन्देह व घृणा से ऊपर उठने का साधन है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

एकत्व का दर्शन

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः॥७॥

१. मनुष्य सुनकर व पढ़कर यह जान जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, यह तो एक वस्त्र है। मृत्यु वस्त्र-परिवर्तनमात्र है, परन्तु व्यवहार में आकर उसे यह बात भूल जाती है और वह यही कहने लगता है कि 'मैं बीमार हो गया, पतला हो गया'। इस प्रकार उसका ज्ञान उथला ही प्रमाणित होता है। यह 'विजानन्' विशिष्ट ज्ञानी नहीं बना। विज्ञानन् पुरुष तो आत्मस्वरूप को समझता है। आत्मस्वरूप को समझने के साथ अपने शाश्वत सखा 'प्रभु' को अन्दर-बाहर सर्वत्र व्याप्त अनुभव करता है। २. इस **विजानतः**=विशिष्ट ज्ञानी पुरुष के दृष्टिकोण में प्रभु ने सबको व्याप्त किया हुआ है। 'प्रभु सबमें हैं, सब प्रभु में हैं' यह तो यही देखता है। इस प्रकार देखने के कारण यह परमात्मा-ही-परमात्मा को देखता है। हार की मणियों को न देखकर वह ओतप्रोत सूत्र को देखता है, अतः वह समावस्थित परमेश्वर को ही सर्वत्र देखने के कारण सब भूतों में आत्मभाव रखता है। जब ये सब भूत उस प्रभु में हैं तब उससे अलग हो ही कैसे सकते हैं! मन्त्र के शब्दों में **यस्मिन्**=जिस समय इस 'विज्ञानन्' की दृष्टि में **सर्वाणि भूतानि**=सब भूत (प्राणी) **आत्मा एव**=आत्मा ही **अभूत**=हो जाते हैं, **तत्र**=उस स्थिति में **एकत्वम्**=एकत्व को **अनुपश्यतः**=देखते हुए को

कः मोहः=क्या तो मोह और **कः शोकः**=क्या शोक? यह विजानन् पुरुष शोक-मोह से ऊपर उठ जाता है। एकत्वदर्शन में शोक-मोह का स्थान नहीं है। ४. 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'=भय तो दूसरे से ही होता है, अद्वैत में तो अभय-ही-अभय है। 'विश्व की नागरिकता' व ऐक्य भावना ही मानव कल्याणकारिणी है। पति-पत्नी भी मिलकर एक हो जाते हैं तभी तो शङ्का व भय दूर हो वास्तविक प्रेम उत्पन्न होता है। ५. एवं, अद्वैतानुभव ही कल्याणंकर है। यही वास्तविकता है, इसको जानकर ही विजानन् पुरुष शोक-मोह से अतीत होता है।

भावार्थ—जीवात्मा व परमात्मा दो सत्ताएँ है, परन्तु सब जीव प्रभु में हैं, सो पृथक् न होने से 'आत्मा-ही-आत्मा' हैं, ऐसा अनुभव करके हम 'शोक-मोहातीत विजानन्' बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

व्यापक व शुद्ध

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥

१. **सः**=वे प्रभु **परि अगात्**=चारों ओर (पहले से ही) गये हुए हैं। वह कौन-सा स्थान है जहाँ प्रभु नहीं हैं? सर्वव्यापक होने के कारण ही वे प्रभु **शुक्रम्** (शुच् दीप्तौ)=अत्यन्त दीप्त व उज्ज्वल हैं। २. वे प्रभु सर्वव्यापक हैं, अतः **अकायम्**=शरीररहित हैं। शरीररहित होने से ही **अव्रणम्**=व्रणादिरहित हैं, **अस्नाविरम्**=नस-नाड़ियों से शून्य हैं। व्रण व नस-नाड़ियों का सम्बन्ध शरीर से ही है। शरीर नहीं, तो ये कहाँ से? ३. **शुद्धम्**=वे प्रभु पूर्ण शुद्ध हैं और **अपापविद्धम्**=पाप से विद्ध नहीं। ४. **कविः**=वे प्रभु क्रान्तदर्शी हैं, प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जानते हैं। लोक में जो-जो व्यक्ति जितना-जितना बहुदृष्ट व बहुश्रुत बनता चलता है उतना-उतना ही उसका दृष्टिकोण व्यापक व सत्य होता जाता है। प्रभु पूर्ण व्यापक हैं, उनका दृष्टिकोण पूर्ण सत्य है। वे प्रभु **मनीषी**=विद्वान्=पूर्ण ज्ञानी हैं, क्योंकि **परिभूः**=चारों ओर—सर्वत्र होनेवाले हैं। उनके कवित्व व मनीषित्व का रहस्य इस परिभूपन में ही है। ५. 'इस प्रभु को किसने जन्म दिया?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वे **स्वयम्भूः**=स्वयं होनेवाले हैं। उनको जन्म देनेवाला कोई नहीं। वे 'खुद् आ' हैं और वास्तविकता यह कि वे शरीर-बन्धन में आते-जाते ही नहीं। यह आना-जाना जीव के लिए ही सम्भव है, जोकि व्यापक सत्तावाला नहीं। ६. ये 'स्वयम्भू' प्रभु **शाश्वतीभ्यः**=सनातन **समाभ्यः**=प्रजाओं के लिए **याथातथ्यतः**=ठीक-ठीक सब बातों व वस्तुओं का **व्यदधात्**=प्रतिपादन व सम्पादन करते हैं। यह तो जीव ही की कमी है कि उन पदार्थों का वह ठीक प्रयोग नहीं करता व प्रभु की प्रेरणा को नहीं सुनता परिणामतः कष्ट का भागी होता है।

भावार्थ—हम इस तत्त्व को समझें कि जो जितना व्यापक है, वह उतना ही शुद्ध है। यह समझकर हमारा ध्येय 'व्यापक दृष्टिकोणवाला बनना' ही हो जाए।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अँधेरा और घना अँधेरा

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याꣳ रताः॥९॥

१. '**सम्**' शब्द का अर्थ होता है 'मिलकर' और **भूति**=होना। मिलकर होना, अर्थात्

व्यक्तित्व को अलग न समझकर समाज को ही सब-कुछ समझना 'सम्भूति' है। इसके विपरीत व्यक्ति को ही प्रधानता दे देना 'असम्भूति' है, इसमें व्यक्ति केवल निजहित को देखता है, सामाजिक हित को वह उपेक्षित कर देता है। २. मन्त्र में कहते हैं कि **ये**=जो **असम्भूतिम्**=व्यक्तिवाद की **उपासते**=उपासना करते हैं, वे **अन्धन्तमः**=घने अँधेरे में **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं, ४. परन्तु क्या अकेला समाजवाद कल्याण कर सकता है? उत्तर यह है कि कल्याण का प्रश्न तो दूर रहा **ये**=जो **सम्भूत्याम्**=समाजवाद में **रताः**=फँसे हुए हैं **ते**=वे **ततः**=उस व्यक्तिवादी की अपेक्षा **भूय इव**=कुछ अधिक ही **तमः**=अँधेरे में (प्रविशन्ति) पहुँचते है। केवल समाजवादियों की गति व्यक्तिवादियों से अधिक हीन होती है। कारण यह कि व्यक्ति को बिलकुल उपेक्षित कर देने के कारण व्यक्ति की उन्नति समाप्त हो जाती है और व्यक्ति ने ही समाज को बनाना है। व्यक्ति की निर्बलता का परिणाम यह होता है कि समाज एकदम निर्बल हो जाता है।

भावार्थ—व्यक्तिवादी अन्धकार में जाता है तो समाजवादी और भी अधिक अन्धकार में।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

व्यक्तिवाद व समाजवाद का चमत्कार

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१०॥

सम्भवात्=समाजवाद से, मिलकर चलने से, सम्भूति से **अन्यत् एव**=विलक्षण ही फल **आहुः**=कहते हैं। **असम्भवात्**=व्यक्तिवाद से भी **अन्यत् आहुः**=विलक्षण ही फल कहा गया है। **ये**=जो विद्वान् **नः**=हमें **तत्**=इस व्यक्तिवाद व समाजवाद को **विचचक्षिरे**=विस्पष्टरूप से बतलाते हैं, उन **धीराणाम्**=ज्ञान के देनेवालों से **इति**=यह बात **शुश्रुम**=हमने सुनी है। मिलकर चींटियाँ हाथी को भी समाप्त कर देती हैं। व्यक्तिवाद के फल की विलक्षणता शारीरिक दृष्टि से पहलवानों में प्रकट हो रही है। बौद्धिक दृष्टि से यह वैज्ञानिकों, योगियों में प्रकट होती है।

भावार्थ—व्यक्तिवाद व समाजवाद दोनों के ही फल विलक्षण हैं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

व्यक्ति व समाज का समन्वय

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥११॥

ऊपर दो बातें देखी जा चुकी हैं। १. सम्भूति व असम्भूति के फल चमत्कारिक हैं, और २. अलग-अलग ये दोनों ही मनुष्य को अँधेरे में ले-जाते हैं, अतः ऐसी अवस्था में करना क्या चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में इन शब्दों में देते हैं कि— **सम्भूतिम् च**=सम्भूति वा समाजवाद को **विनाशम् च**=(विनश) भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाना, मिलकर न चलना, अर्थात् व्यक्तिवाद को **यः**=जो **तत् उभयम्**=दोनों को **सह वेद**=साथ-साथ प्राप्त करता है (विद् लाभे), वह व्यक्ति **विनाशेन**=व्यक्तिवाद से **मृत्युम्**=मृत्यु को **तीर्त्वा**=तैरकर **सम्भूत्या**=समाजवाद से **अमृतम्**=अमरता को **अश्नुते**=प्राप्त करता है। 'सह वेद' इन शब्दों में व्यक्ति व समाज को मिला देने का संकेत है। प्रत्येक हितकारी नियमों में

व्यक्तिवाद को ही स्थान मिलना चाहिए तो समाज-हितकारी बातों में प्रमुखता समाजवाद की रहनी चाहिए। 'शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्राणिधान' इन नियमों के पालन में व्यक्ति स्वतन्त्र है तो 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह' इन नियमों के पालन में वह परतन्त्र है। नियमों का पालन नहीं करेगा तो व्यक्ति ही हानि उठाएगा, परन्तु यमों का पालन न करे तो समाज की हानि है, अतः इनके पालन में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं। इनका पालन उसे करना ही होगा। शौच, सन्तोष आदि का पालन करता हुआ वह असमय की मृत्यु से बचेगा तो अहिंसा आदि के अनुष्ठान से वह अपने समाज को अमर बना पाएगा। आजकल की भाषा में व्यक्ति वैध उपायों से धन कमाने के लिए स्वतन्त्र है, परन्तु कर देना या न देना, यह उसकी इच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता। 'गृहस्थ बने या न बने' इतने अंश में व्यक्ति स्वतन्त्र है, परन्तु 'ब्रह्मचर्य' पालन करे या न करे, संयमी जीवनवाला हो या न हो यह उसकी इच्छा का विषय नहीं रक्खा जा सकता। असंमय से वह कितने ही घरों को बरबाद करेगा। एवं व्यक्तिवाद व्यक्ति को उन्नत करता है और समाजवाद इस उन्नत व्यक्ति को समाज के लिए उपयोगी बनाता है।

भावार्थ—हमारे जीवन में व्यक्तिवाद व समाजवाद का समन्वय हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

विद्या और अविद्या

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायाꣳरताः॥१२॥

प्रस्तुत मन्त्र में अविद्या और विद्या के अर्थ को समझने के लिए उपनिषद् का यह वाक्य स्मरणीय है कि **'द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैवापरा च'** परा और अपरा दोनों ही विद्याएँ जाननी चाहिएँ। परा वह है जिससे अक्षरब्रह्म का ज्ञान होता है, अर्थात् ब्रह्मविद्या व आत्मविद्या ही 'पराविद्या' है। आत्मतत्त्व से प्रकृतितत्त्व अपर है, अतः उसका ज्ञान ही 'अपराविद्या' नाम से कहा गया। दोनों का ही ज्ञान आवश्यक है। शरीर के हित के लिए 'प्रकृति का ज्ञान' आवश्यक है, तो अपने स्वरूप को जानने के लिए आत्म-ज्ञान आवश्यक है। 'अपरा-विद्या' और 'परा-विद्या' इन दोनों शब्दों में से 'परा' इस सामान्य शब्द को हटा देने पर ये शब्द 'अविद्या' और 'विद्या' हो गये हैं। यहाँ मन्त्र में इन्हीं का प्रयोग है। **ये**=जो **अविद्याम्**=प्रकृतिविद्या की **उपासते**=उपासना करते हैं वे **अन्धन्तमः**=घने अँधेरे में **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं। (क) वर्त्तमान संसार में वैज्ञानिक 'आणविक अस्त्रों' से व्याकुल हो उठे हैं। उनको सूझता नहीं कि इनका क्या करें और क्या न करें? (ख) बड़े-बड़े दैत्याकार यन्त्र बनाकर इतनी तीव्रता से वस्तुओं का निर्माण कर रहे हैं कि उनकी बिक्री के लिए मण्डी का मिलना दुष्कर हो रहा है। (ग) पैन्सिलीन आदि आविष्कार से निर्भीक होकर ये युवक अनाचार से घबरा नहीं रहे। (घ) मनुष्यों का स्थान यन्त्रों ने ले-लिया है और इस प्रकार मनुष्य को उसने बेकार (unemployed) कर दिया है। इस प्रकार इस प्रकृतिविद्या ने कितनी ही जटिलताएँ उपस्थित कर दी हैं, परन्तु क्या ब्रह्मविद्या का कोई कृष्णपार्श्व नहीं है? नहीं, इसका कृष्णपार्श्व तो और भी अधिक कृष्ण है। भारतीयों का झुकाव आत्मा की ओर अधिक हो गया। ये प्रतिक्षण आत्मा की उपासना में ही बिताने लगे और जब ये परमात्मा की ही रट लगाने में तन्मय थे, इनका ध्यान प्रभु की ओर था तो विदेशियों ने अवसर पाकर चुपके से इनके पाँव तले से भूमि को खिसका

लिया। भारतीयों का ध्यान गया तो इन्हें परतन्त्रतापाश में जकड़नेवालों ने कहा 'आत्मा ही तो सत्य है' उसे तुम रक्खो, इस मिथ्या संसार को हमें दे डालो, हमने तो तुम्हारी जूठन ही ली है, हम तुम्हारे सत्य में हस्तक्षेप नहीं कर रहे है। बस, इस आत्मरति ने भारतीयों को हज़ार वर्ष तक गुलाम रक्खा और भूखों मारा एवं मन्त्र के शब्दों के अनुसार **ततः**=उस प्रकृतिविद्या के उपासकों से भी **भूय इव**=अधिक ही **तमः**=अन्धकार को वे प्राप्त करते हैं **ये**=जो निश्चय से **विद्यायाम् रताः**=ब्रह्मविद्या में फँसे हुए हैं।

भावार्थ—केवल प्रकृतिविद्या के उपासक अँधेरे में प्रवेश करते हैं तो केवल ब्रह्मविद्या के उपासक उससे भी घने अँधेरे में पहुँचते हैं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

विलक्षण फल

अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽअन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१३॥

विद्यायाः=आत्मविद्या का **अन्यत् एव**=विलक्षण ही फल **आहुः**=कहते हैं। योगदर्शन का विभूतिपाद आत्मविद्या के फलों का विशद वर्णन करता है। आत्मविद्या के चमत्कार निश्चित रूप से विलक्षण हैं, परन्तु **अविद्यायाः**=प्रकृतिविद्या के भी तो **अन्यत्**=विलक्षण फल को **आहुः**=कहते हैं। पानी और अग्नि को वशीभूत करके किस प्रकार यन्त्र चलने लगे, विद्युत् के वशीकरण ने हद ही कर दी। हज़ारों मील दूर बैठे पुरुष से बात भी हो सकती है। आकृति भी देखी जा सकती है। भाषण इस तरह सुने जाते हैं जैसे, दस फीट पर ही कोई व्यक्ति बोल रहा हो। बेतार की तार चमत्कार ही है। सब काम स्वयं करती हुई मशीन मनुष्य को चकित कर देती है। मनुष्य की बनाई गई मशीन मनुष्य की अपेक्षा गुणा-भाग आदि के प्रश्नों को शीघ्रता से हल कर देती है। युद्ध के यन्त्र भयंकर अवश्य हैं, परन्तु विस्मयकारक तो हैं ही। **इति**=इस प्रकार विद्या और अविद्या दोनों के ही फल विलक्षण हैं। यह हमने उन **धीराणाम्**=ज्ञानियों से **शुश्रुम**=सुना है **ये**=जिन्होंने **नः**=हमारे लिए **तत्**=इस बात का **विचचक्षिरे**=प्रतिपादन किया है।

भावार्थ—भौतिक व आत्मिक दोनों ही ज्ञानों के विलक्षण फल हैं। भौतिक ज्ञान क्लोरोफार्म आदि के द्वारा हमें अचेतन करके पीड़ा का अनुभव नहीं होने देता, तो आत्मज्ञान हमें सदेह होते हुए भी विदेह बनाकर पीड़ा से ऊपर उठा देता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

मृत्यु से तैरना व अमर बनना

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥१४॥

उल्लिखित विलक्षण फलोंवाली **विद्यां च**=आत्मविद्या को और **अविद्यां च**=प्रकृतिविद्या को **यः**=जो **तत् उभयम्**=उन दोनों को **सह वेद**=साथ-साथ जानता है वह **अविद्यया**=सृष्टिविद्या से **मृत्युम् तीर्त्वा**=मृत्यु को तैरकर **विद्यया**=आत्मज्ञान से **अमृतम्**=अमरता को **अश्नुते**=प्राप्त करता है। मनुष्य दो कारणों से मुख्यतया असमय में ही मृत्यु का ग्रास हो जाता था। एक तो अकाल पड़ जाने से भूखे मरकर और दूसरे बीमारियों का शिकार होकर। प्रकृतिविद्या व विज्ञान ने थोड़ी भूमि पर अधिक अन्न उपजाकर भूखे मरने के प्रश्न को समाप्त कर

दिया, साथ ही मक्खी-मच्छरों को समाप्त कर मलेरिया आदि बीमारियों को भी समाप्त कर दिया। साथ ही औषध विज्ञान ने टी.बी. आदि बीमारियों का भी प्रतीकार कर दिया है, अतः इनकी भयंकरता समाप्त हो गई है। एवं, मनुष्य प्रकृतिविद्या से मृत्यु को तैर गया है। शल्य-चिकित्सा के चमत्कारों ने मानवजीवन को दीर्घ कर दिया है। संक्षेप में विज्ञान ने मनुष्य के लिए प्रकृति को बड़ा सुखद व सुन्दर बना दिया है। मनुष्य को प्रकृति निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। कई बार तो मनुष्य किसी वस्तु के लिए इतना लालायित हो उठता है कि 'वह उसके बिना मर ही जाएगा' ऐसा प्रतीत होने लगता है। 'आत्मस्वरूप का चिन्तन ही उसे इस मरने से बचाएगा', अतः मन्त्र में कहते हैं कि **विद्यया**=आत्मज्ञान से **अमृतम्**=अमरता को **अश्नुते**=पाता है। (क) प्रकृतिविद्या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं की न्यूनता नहीं होने देती और आत्मविद्या उसे उन वस्तुओं के मात्रातीत प्रयोग से बचाती है। (ख) प्रकृतिविद्या जीवन की मोटर में एञ्जिन है तो आत्मविद्या ब्रेक का काम देती है। प्रकृतिविद्या के बिना तो जीवन की गाड़ी चलती ही नहीं पर आत्मविद्या न हो तब भी यह कहीं-न-कहीं टकराकर टूट ही जाएगी। एवं, हमें अपने जीवनों में दोनों का ही समन्वय करके चलना है। प्रत्येक गृहस्थ अपने सन्तानों को विज्ञान की शिक्षा अवश्य दिलवाए और अपने साथ धार्मिक सत्सङ्गों में भी उन्हें अवश्य ले-जाए। वैज्ञानिक युवक भूखा न मरेगा और अध्यात्मिक वृत्तिवाला होने से विषयासक्त न होगा। विज्ञान विषयों को उपस्थित करता है, आत्मविद्या उन विषयों का प्रयोग करते हुए भी उनके बन्धन से बचाती है।

भावार्थ—हम अविद्या से मृत्यु को तरें और विद्या से अमरता का लाभ करें। विद्या से हम विषयों की अपातरमणीयता को जानेंगे और उन विषयों के पीछे मरेंगे नहीं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

शरीर व आत्मा का स्वरूप

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतꣳस्मर॥१५॥

१ 'आत्मा' शब्द 'अत्-गतौ' धातु से बना है, इसका ठीक पर्यायवाची शब्द 'वा-गतौ' से बना हुआ 'वायु' है। ये दोनों ही शब्द जीव को उसके स्वभाव की सूचना दे रहे हैं, जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है, उष्णता के बिना अग्नि कुछ नहीं, इसी प्रकार 'जीव हो और गतिशील न हो' यह नहीं हो सकता। वह तो 'आत्मा' है, वह 'वायु' है। यह आत्मा **'अनिलम्'**=(न+इला) पार्थिव नहीं, भौतिक नहीं। पार्थिव न होने से ही तो यह **अमृतम्**= अविनश्वर है। भौतिक वस्तु नश्वर है, अभौतिक अनश्वर। इस प्रकार संकेत इस बात का भी हो गया है कि यदि हम भौतिकता से ऊपर उठेंगे तो मृत्यु से भी बच पाएँगे। साथ ही यह अनुभव सिद्ध बात है कि अति भोजन हमें लेटने के लिए बाधित करता है, मित भोजन हमारे जीवन में स्फूर्ति का कारण बनता है, एवं 'वायु' और 'अमृतम्' के बीच में पड़ा हुआ 'अनिलम्' शब्द दोनों बातों का संकेत कर रहा है कि (क) अपार्थिवता, अभौतिकता हमें अधिक क्रियाशील बनाती है, और (ख) यही अभौतिकता हमें मृत्यु से भी बचाती है। २. 'हमारी प्रवृत्ति भौतिक न हो' इसके लिए शरीर के स्वरूप का चिन्तन कितना सहायक हो जाता है? अतः मन्त्र में कहते है **अथ**=आत्मा अमर है तो, अब, **इदम् शरीरम्**=यह शरीर **भस्मान्तम्** =भस्मरूप परिणामवाला है। इस मिट्टी में मिल जानेवाले शरीर के भोगों

के लिए ऐसा लालायित क्यों होना? जिसने साथ नहीं देना उसके लिए इतना भी क्या हाथ-पैर मारना? ३. हे **क्रतो**=(क्रतु यज्ञ, क्रतु=Power)=यज्ञादि कर्मों के द्वारा शक्ति का सञ्चय करनेवाले जीव **ओ३म् स्मर**=तू उस रक्षक प्रभु का स्मरण कर। इसका स्मरण ही तुझे भोगों में फँसने से बचने की शक्ति देगा। **क्लिबे स्मर**=तू इसलिए स्मरण कर क्योंकि तुझे शक्ति प्राप्त हो। 'क्लृपू सामर्थ्ये' से बना 'क्लिब्' शब्द सामर्थ्य का वाचक है। प्रभु-स्मरण से शक्ति प्राप्त होती है। आचार्य दयानन्द प्रातः-सायं दोनों समय प्रभु से अपना सम्पर्क स्थापित करके अपने जीवन की बैटरी को फिर से भर लेते थे। इस शक्ति को प्राप्त करके तू अपने **कृतम्**=(नपुंसके भावे क्तः)=कर्त्तव्य-कर्म का **स्मर**=स्मरण कर। 'प्रभु-स्मरण से शक्ति, शक्ति से कर्म' यह है क्रम जो इस कार्यकारणभाव को स्पष्ट कर रहा है। हमने अधिकार चर्चाएँ नहीं करनी, कर्त्तव्य का ही स्मरण करना है। हमारा तो वस्तुतः अधिकार भी कर्त्तव्य-स्मरणमात्र है।

भावार्थ—आत्मा की अपार्थिवता को और शरीर की भस्मान्तता को स्मरण करें, जिससे हमारा जीवन भोगप्रधान न हो। प्रभु का स्मरण करें, जिससे शक्ति प्राप्त करके अपने कर्त्तव्य को सुचारुरूपेण निभा सकें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

बिना किसी अपराध के Without Crime, Without sin

अग्ने॒ नय॑ सु॒पथा॑ रा॒येऽअ॒स्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हु॒रा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑ऽउक्तिं विधेम ॥१६॥

१. धन 'संसार' का पर्यायवाची शब्द-सा हो गया है। कोई भी कार्य धन के बिना नहीं हो पाता। यजुर्वेद में प्रतिपादित सब यज्ञ भी धन से ही होने हैं, अतः धन आवश्यक है, परन्तु यही धन हमें अशुचि बनाकर निधन की ओर ले-जाता है। साधनभूत धन प्रायः साध्य का स्थान ले-लेता है। यह हमारे प्रयोजन का साधक व सेवक नहीं रहता, हमीं इसके सेवक हो जाते हैं। हम इसके पति नहीं, यह हमारा पति हो जाता है और हमें पीस डालता है। उस समय हम टेढ़े-मेढ़े सभी साधनों से इसे कमाने लगते हैं। सब कर्त्तव्य कर्मों को भूल-से जाते हैं, सच तो यह कि कुछ अन्धे-से हो जाते हैं, अतः मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि—२. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! कभी भी न भटकने देनेवाले प्रभो! **अस्मान्**=हम सबको **राये**=धन के लिए, उस धन के लिए (रा दाने) जो वस्तुतः दान देने के लिए है, यज्ञों में विनियोग के लिए है, **सुपथा नय**=उत्तम मार्ग से ले-चलिए। हम कभी भी धन की चमक के वशीभूत होकर अन्याय-मार्ग से इसके कमाने का विचार न करें। हे **देव**=दिव्य मार्गों को दिखानेवाले प्रभो! **विश्वानि वयुनानि**=आप तो हमारे सब कर्मों व प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जान रहे हैं, अतः ज्योंही हमारे मस्तिष्क में ग़लत रास्ते से धन कमाने का विचार उठे, आप उसे वहीं समाप्त कर दें। न विचार-बीज रहेगा और न रद्दी कर्मरूप अंकुर उत्पन्न होगा (Nip the evil in the bud) अज्ञान-पुष्प ही न रहेगा तो कर्मफल होगा ही कैसे? ३. **अस्मत्**=हमसे **जुहुराणम्**=कुटिलता (crime) को तथा **एनः**=पाप (sin) को **युयोधि**=पृथक् कीजिए। हम न तो कुटिलमार्ग से धन कमाएँ और न ही पाप की कमाई जुटाएँ। राष्ट्रीय नियमों को तोड़ना ही कुटिलता है। आय-कर ठीक न देने के लिए हिसाब को ठीक न दिखाना आदि सब बातें 'जुहुराणम्' हैं। प्रभु के प्रति पाप 'एनः' है। प्रभु ने नियम बनाया कि **स्वेदस्य**=पसीने की कमाई ही तुम्हारी कमाई हो। मैं बिना श्रम

के सट्टे के द्वारा, लॉटरी टिकिट्स के द्वारा रुपया कमाना चाहता हूँ, यह 'एनस्' (Sin) है। प्रभु मुझे इन दोनों से दूर करें। ४. इस कार्य के लिए हे प्रभो! हम **ते**=आपकी **भूयिष्ठाम्**=बहुत अधिक **नमः उक्तिम्**=नमन की उक्ति को **विधेम**=करते हैं। हम सदा आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। आपकी उपासना ही हमें 'कुटिलता व पाप' से बचाएगी, अन्यथा इस धन की गुलामी से हम कहाँ बच पाएँगे?

भावार्थ—हे प्रभो! ऐसी कृपा करो कि हम सदा सन्मार्ग से ही धन कमाएँ। आपकी कृपा से कुटिलता व पाप हमसे दूर रहें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

हिरण्मय पात्र

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म ॥१७॥

'मनुष्य क्यों कुटिलता व पाप से धन कमाने लगता है?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार दिया है कि **हिरण्मयेन पात्रेण**=स्वर्ण के बने देदीप्यमान पात्र से **सत्यस्य**=सत्य का **मुखम्**=स्वरूप **अपिहितम्**=ढका हुआ है। यह संसार की सीपी (शुक्ति) चमकती है और हम इसे चाँदी समझ बैठते हैं, विषयों की आपात रमणीयता से उनका पर्यन्तपरितापित्व छिपा रहता है। विष का माधुर्य उसके विषत्व को विस्मृत करा देता है। संसार चमकता है और उस चमक को ही हम सत्य मान लेते हैं। हमें यह जनश्रुति भूल जाती है कि "All that glitters is not gold."

मन्त्र कहता है कि यह चमक उस वस्तु की नहीं। अपने शरीर को ही देखो। यहाँ कब तक चमक है? जब तक अन्दर आत्मा है। आत्मा गई और यह आभाशून्य होकर विश्लिष्ट (Disintigrated) व दुर्गन्धित होने लगा। इसी प्रकार सूर्य आदि में चमक अन्तःस्थित पुरुष (परमात्मा) के ही कारण है। यह सूर्यादि की अपनी चमक नहीं। **यः**=जो **असौ**=वह **आदित्ये**=सूर्यमण्डल में **पुरुषः**=अधिष्ठातृरूपेण स्थित पुरुष है **सः**=वह पुरुष **असौ**=तेरे प्राणों में भी है (असवः प्राणाः), अर्थात् क्या सूर्य की चमक और क्या तेरे इस छोटे से पिण्ड की चमक—ये सब उस अन्तःस्थ पुरुष की चमक है। यह इनकी अपनी चमक नहीं। संसार में सर्वत्र उस पुरुष ही की चमक है। ये प्राकृतिक पदार्थ अपने में निष्प्रभ हैं। प्रभु कहते हैं कि इन पदार्थों को प्रभा देनेवाला वह पुरुष ही **अहम्**=मैं हूँ। **खम् ब्रह्म**=आकाश की तरह मैं बढ़ा हुआ व्यापक हूँ। मेरी व्याप्ति से ही प्रकृति में दीप्ति है। हे जीव! इस दीप्ति को प्रकृति समझकर तू उसमें न उलझ। यदि तू इसमें नहीं उलझेगा तो धन को छल-छिद्र से जुटाने के लिए तू लालायित भी क्यों होगा? तेरा अज्ञानान्धकार दूर हो जाएगा। तू 'दीर्घ-तम' बन जाएगा।

भावार्थ—सांसारिक चमक से हमारी आँखें चुँधियाँ न जाएँ, तभी हम सत्य को देख पाएँगे।

इति चत्वारिंशोऽध्यायः॥
इत्युत्तरविंशतिः समाप्ता॥
यजुर्वेदभाष्यं समाप्तम्॥